हजारीप्रसाद द्विवेदी का इतिहास-बोध

ललित मोहन*

सारांश

अद्वितीय प्रतिभासंपन्न, बहुभाषाविद्, प्रखर आलोचक, निबंधकार साहित्येतिहास–लेखक, उपन्यासकार, आचार्यत्व की गरिमा से परिपूर्ण फक्कड़ व्यक्तित्व आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य की अमर निधि हैं। परंपरा, संस्कृति और इतिहास उनके कृतित्व की केंद्रीय संपत्ति हैं। परंपरा–बोध, इतिहास–बोध, संस्कृति–बोध तथा आधुनिकता–बोध उनके साहित्य में सर्वत्र दिखाई देता है। इतिहास–विवेक के आधार पर उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा साहित्य के उच्चतम आदर्शों को आधुनिक समाज के लिए संप्रेषित किया है। उनका इतिहास–बोध प्राचीन तथा आधुनिक समाज की जटिलताओं से व्युत्पन्न भावबोध है। सर्वत्र मानवता का संदेश देने वाला उनका यह भावबोध वर्तमान में और अधिक प्रासंगिक बन जाता है। अपनी भावबोध की आधारभूमि से अर्जित की गयी उनकी मानवतावादी दृष्टि के संदर्भ में नामवर जी लिखते हैं, इतिहास उनके लिए एक शव था और इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि इस शव साधना में उनकी दृष्टि के सम्मुख मनुष्य का भविष्य था।[1]

मुख्य शब्द– प्रतिभासंपन्न (विलक्षण, बुद्धिप्रधान), बहुभाषाविद् (एक से अधिक भाषा के ज्ञाता), प्रखर (गहन, तीव्र), फक्कड़ (अलमस्त, फकीर, स्पष्टभाषी)।

शोधपत्र अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य लेखक के इतिहास–बोध से व्युत्पन्न मानवतावादी विचारधारा और उनकी भविष्योन्मुखी दृष्टि की प्रासंगिकता को पाठकों के लिए संप्रेषित करना है ।

शोध पद्धति

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली समग्र तथा उनके साहित्य से संबंधित आलोच्य पुस्तकों के सहायतार्थ प्रस्तुत शोध आलेख में विश्लेषणात्मक शोध पद्धति को अपनाया गया है ।

हजारीप्रसाद द्विवेदी का इतिहास–बोध

विचारधारा का अंत, इतिहास का अंत, कविता का अंत, ईश्वर का अंत आदि की घोषणा करने वाला 20वीं सदी का अंतिम दशक उत्तर–आधुनिक विमर्श का संघर्षमय काल है। परंतु बिडंबना यह है कि सर्वत्र इतिहास के अंत की घोषणा करने वाला व्यक्ति जिंदा है। इतिहास–बोध मानव की प्रगति और उसके भविष्य को दिशा देने में सहायक है। इतिहास–बोध के संदर्भ में द्वारिका प्रसाद चारूमित्र ने लिखा है, केवल पशु ही इतिहास–बोध और इतिहास–निर्माण के दायित्व से मुक्त होते हैं, मनुष्य नहीं। मनुष्य नामक विकसित एवं सचेत प्राणी के लिए यह संभव ही नहीं कि वह इतिहास से विमुक्त हो सके। इतिहास मनुष्य की रचना है और इतिहास से विमुक्ति का अर्थ है, अपनी संपूर्ण सांस्कृतिक विरासत से कटकर कालातीत में चले जाना और ऐसा केवल नींद या मृत्यु में ही संभव है।[2]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य में अपने समृद्ध व्यक्तित्व के कारण अत्यंत विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। उनका वृहद् साहित्य–कर्म इसी वैशिष्ट्य का पूर्ण परिचायक है। निबंध–लेखन के क्षेत्र में उन्होंने हिंदी साहित्य को एक विरासत प्रदान की है। उनकी लेखनी मानवतावादी है और वे समग्र को साथ लेकर चलने वाले रचनाकार हैं। उनकी समग्र उन्नति वाली अवधारणा को इस कथन द्वारा समझा जा सकता है, निःसंदेह रूप से आचार्य द्विवेदी ने शास्त्र, सत्ता और सांस्कृतिक प्रभुत्व से पीड़ितों के लिए एक नया सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विकल्प प्रस्तुत किया है। सदियों से अपरिवर्तनीय और शाश्वत मान लिये गये आभिजात्य सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रतिमानों के समानांतर द्विवेदी जी ने लोकवादी और मानवतावादी दृष्टि को विकल्प के तौर पर प्रस्तुत किया जिसमें निम्न जातियों और स्त्रियों के पक्ष में परिवर्तनकामी आकांक्षा व्यक्त हुई है।[3]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इतिहास–बोध की चर्चा से पूर्व उनसे पहले साहित्येतिहास के प्रति इतिहासकारों का क्या दृष्टिकोण रहा है, इसकी यहाँ चर्चा करना अति आवश्यक है। इस क्रम में सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल के इतिहास–मत का यहाँ उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण हो जाता है। आचार्य शुक्ल ने साहित्य की शुरूआत ही वीरगाथा–काल से मानी। उन्होंने वीर रस–युक्त रचनाओं, जिसे रासो साहित्य भी कहा जाता है, को अपने इतिहास ग्रंथ में प्रमुखता से स्थान दिया और इस काल को वीरगाथा काल नाम से अभिहित किया।

* शोधार्थी, हिंदी विभाग, डी0 एस0 बी0 परिसर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

जैन तथा नाथ साहित्य, जिसकी वैचारिक पृष्ठभूमि से ही आचार्य द्विवेदी हिंदी साहित्य की शुरूआत मानते हैं, आचार्य शुक्ल इस साहित्य को ही साहित्य की कोटि से बाहर कर देते हैं। इस संबंध में शुक्ल जी का मत है, आदिकाल का नाम मैंने वीरगाथा काल रखा है, उक्त काल के भीतर दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं– अपभ्रंश की और देशभाषा (बोलचाल) की। अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्म–तत्त्व–निरूपण संबंधी जो साहित्य की कोटि में नहीं आती और जिनका उल्लेख केवल यह दिखाने के लिए ही किया गया है कि अपभ्रंश भाषा का व्यवहार कब से हो रहा था।[4]

आचार्य द्विवेदी, आचार्य शुक्ल से एक सहस्राब्दी पीछे जाकर बौद्ध, जैन, नाथ तथा संस्कृत साहित्य के सतत् विकास–क्रम को हिंदी साहित्य की स्वाभाविक और गतिशील चिंताधारा का विकास मानते हैं। साहित्य की इस स्वाभाविक प्रवाहमयी विकासधारा को अभिव्यक्त करने के लिए आचार्य द्विवेदी जी के पास ठोस ऐतिहासिक तर्क और प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनका उल्लेख उन्होंने अपनी पुस्तक हिंदी साहित्य की भूमिका, हिंदी साहित्य का आदिकाल और हिंदी साहित्य का उद्‌भव और विकास तथा कबीर में बार–बार किया है। जबकि आचार्य शुक्ल ने इनके साहित्य को जीवन के स्वाभाविक विकास से काटकर साहित्य की कोटि से भी बाहर की वस्तु माना। जिस धर्म, साहित्य और संस्कृति में सर्वसाधारण को साथ ले चलने की प्रवृत्ति विद्यमान न हो उसे आचार्य द्विवेदी अपने चिंतन क्षेत्र में बहुत अधिक प्रश्रय नहीं देते। जैसे हीनयान और महायान शाखा को ले लें तो हीनयान की अपेक्षा महायान को अधिक महत्व दिया है, जिसमें सहजता, लोकगम्यता, मानवीयता और समन्वयमूलक भावना विद्यमान है। यही अनूठी प्रवृत्ति उनके इतिहास–बोध तथा मानवता–बोध की परिचायक है। इसी क्रम में आचार्य शुक्ल भक्तिकाल के साहित्य को मुस्लिम आक्रमणकारियों की प्रतिक्रिया के रूप में देखते हैं और भक्ति को मुस्लिम आक्रांताओं से बचने का एक साधन मानते हैं। उनका स्पष्ट तर्क है, अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?[5]

प्रश्न यह उठता है कि क्या भक्ति–साहित्य केवल भगवान की शरण तक ले जाने का मार्ग देता है या उसमें कुछ अन्य उपादान भी शामिल हैं, जिनके द्वारा समग्र मनुष्य जाति की उन्नति सम्भव है? ऐसे अनेक प्रश्न उपस्थित करके आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के भक्तिकाल पर पुनः विचार करने का मार्ग दिया, जिसका प्रत्युत्तर आचार्य द्विवेदी ने अपने इतिहास–ग्रंथों में दिया है। इसीलिए आचार्य शुक्ल का इतिहास–ग्रंथ बाद के इतिहासकारों के लिए एक आधार–ग्रंथ भी है और इतिहास को नवीन दृष्टिकोण से देखने का एक उपकरण भी। इन तमाम प्रश्नों के उपस्थित हो जाने से आचार्य शुक्ल की ऐतिहासिक महत्ता कम नहीं होती अपितु उनके इतिहास का विस्तार ही होता है। आचार्य द्विवेदी इस्लाम के प्रभाव को पूर्णतः खारिज नहीं करते बल्कि वे अपने गतिशील साहित्यिक और ऐतिहासिक चिंतन के आधार पर अपना तर्क देते हुए कहते हैं, मैं इस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।[6]

भक्तिकाल का पूरा संत–साहित्य समग्र मनुष्य जाति को साथ लेकर चलने वाला और उसकी हर कदम पर उन्नति चाहने वाला साहित्य है। इस क्रम में कबीरदास जी का साहित्य अग्रवाहक है। कबीरदास के समाज–सुधार तथा जाति–विरोधी स्वर को जिस प्रकार अनेक विद्वानों ने मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया माना है, इसके उत्तर में आचार्य द्विवेदी कबीर–पूर्व सहजयानियों और नाथपंथियों के समाज–सुधार एवं जाति–विरोधी उग्र स्वरों को सामने लाते हैं। इस संदर्भ में सहजयानी सिद्ध सरहपा की जाति–व्यवस्था के उग्र–विरोधी मत को अपने इतिहास–ग्रंथ हिंदी साहित्य की भूमिका में बड़ी फक्कड़ता के साथ उजागर किया है। इन मतों तथा सिद्धांतों में सांस्कृतिक तथा सामाजिक आदान–प्रदान के साथ–साथ एक निश्चित गतिशील क्रमबद्धता है, जो बौद्ध मत से प्रारम्भ होकर सिद्धों, नाथपंथियों से कबीर तक सतत् प्रवाहमान है। कबीर के युग में सामाजिक–व्यवस्था पहले के बजाय काफी जटिल हो गयी थी क्योंकि इस समय तक भारतीय समाज में अनेक विदेशी आक्रमणकारियों तथा स्वदेशी उच्च–आदर्श के लोगों का वर्चस्व स्थापित हो चुका था। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों तथा अंतर्विरोधों को देखकर ही कबीर ने समाज–सुधार के पूर्व–प्रचलित प्रतिमानों के सानिध्य में अपनी बात को अत्यधिक कड़ी शब्दावली में व्यक्त किया है। कबीर–युगीन समाज और आज के समाज की तुलना की जाय तो तत्कालीन सामाजिक अंतर्विरोधों की अपेक्षा आज का अत्याधुनिक समाज का रूप तो परिवर्तित अवश्य हुआ है, किंतु उसका आंतरिक कलेवर भयंकर घातक और उग्र रूप धारण कर चुका है। आज आंतरिक क्लेश के कारण कहीं दलित की हत्या और कहीं स्कूलों में दलित–वर्ग की भोजन–माता द्वारा बनाये गये भोजन के विरोध में उसे उस पद से ही निष्कासित कर दिया जाता है। आज के प्रसंग में कबीर तथा आचार्य द्विवेदी के मानवतावादी साहित्य को आत्मसात् करने की अपरिहार्यता बढ़ जाती है।

आचार्य द्विवेदी के साहित्य का मूलाधार इतिहास, परंपरा और संस्कृति है। उनका साहित्य भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के गहन तत्त्वों को साथ लेकर चलता है। उनका साहित्य व्यष्टि से समष्टि को एकाकार करने का सर्वोत्तम साधन है। उन्होंने अपने साहित्य में अनेक ऐसे ऐतिहासिक महापुरूषों के साहित्य तथा जीवन–दर्शन को अभिव्यक्ति दी है, जिससे

समग्र मनुष्य जाति की उन्नति संभव है। इस क्रम में कालिदास उनके जीवन तथा साहित्य के आदर्श रचनाकार के रूप में परिलक्षित होते हैं। कालिदास को उन्होंने अपने साहित्य में सर्वोत्तम स्थान प्रदान किया है। शिरीष के फूल निबंध में आचार्य द्विवेदी जी लिखते हैं, कालिदास वजन ठीक रख सकते थे, क्योंकि वे अनासक्त योगी की स्थिर–प्रज्ञता और विदग्ध–प्रेमी का हृदय पा चुके थे। कवि होने से क्या होता है? मैं भी छंद बना लेता हूँ, तुक जोड़ लेता हूँ और कालिदास भी छंद बना लेते थ –तुक भी जोड़ ही सकते होंगे–इसलिए हम दोनों एक श्रेणी के नहीं हो जाते।[7] आचार्य द्विवेदी ने कालिदास के साहित्य में निर्मित अनेक महनीय अनुभवों को अपने जीवन तथा साहित्य में उतारा है। इन अनुभवों को उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से समाज को संप्रेषित किया है। कालिदास के मेघदूत में चित्रित विरह मांसल–मिलन के लिए व्याकुल नहीं है अपितु वह प्रेम के उस रुप का उद्घाटन है, जिसमें मनुष्य शारीरिक और मानसिक भावभूमि से उठकर आत्मिक धरातल पर मिलकर एकाकार हो जाता है। इसी प्रकार कुमारसंभव में कालिदास ने प्रेम के उस निर्मल स्वरुप को प्रदर्शित किया है, जिसमें मनुष्य प्रेम के अभिप्राय की सार्थकता से परिचय पा लेता है। यह प्रेम द्वैत नहीं बल्कि अद्वैत की अनुभूति प्रदान करके मनुष्य को मन, बुद्धि, आत्मा और शरीर के स्तर पर श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करा देता है। शिव और पार्वती की साधना एवं तपस्या के पश्चात व्युत्पन्न जिस शिवत्व–प्रेम को प्रदर्शित किया गया है, वह मनुष्य और समाज के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम माना जा सकता है।

कालिदास ने जिन श्रेष्ठ ऐतिहासिक वृत्तांतों का सहारा लेकर अपने समय के समाज तथा साहित्य को अद्भुत प्रतिष्ठा दिलायी, वही श्रेष्ठ वृत्तांत आचार्य द्विवेदी भी अपने साहित्य में लेकर आये हैं। अपने ऐतिहासिक–बोध को आचार्य द्विवेदी ने सीधे ऐतिहासिक घटनाओं से न जोड़कर प्राचीन साहित्यिक तथा ऐतिहासिक रचनाकारों के कथा–वृत्तांतों से जोड़ा है। कालिदास की रचनाओं से जिन महत्त्वपूर्ण तथ्यों को उन्होंने अपने अनुभव के धरातल में लिया है, निश्चय ही वे तथ्य उनके इतिहास–बोध के सूचक हैं। कुमारसंभव में साधना तथा तपस्या के द्वारा जिस प्रेम को कालिदास ने उजागर किया है, उस संबंध में आचार्य द्विवेदी ने लिखा है, त्याग के साथ ऐश्वर्य का और तपस्या के साथ प्रेम का मिलन होने पर ही स्त्री और पुरुष का प्रेम धन्य होता है। कालिदास ने इस महाकाव्य में यह दिखने का प्रयत्न किया है कि त्याग और भोग के साथ सामंजस्य से ही जीवन चरितार्थ होता है। एकांत वैराग्य आसुरी शक्ति का दमन नहीं कर सकता। भोग और वैराग्य के यथोचित सामंजस्य में ही चरितार्थता है, जो प्रेम केवल शारीरिक आकर्षण पर निर्भर होता है वह क्षण–स्थायी होता है। जब तक वह तपस्या की अग्नि में तपकर नहीं निकलता तब तक वह बन्ध्य है, निष्फल है। पार्वती का जीवन तपस्या और प्रेम का सामंजस्य है, शिव का भोग और वैराग्य का।[8]

वर्तमान के चिंतन और अतीत की प्रेरणा से आचार्य द्विवेदी ने अपनी भविष्योन्मुखी–दृष्टि को इस प्रकार स्थापित कर दिया है जिसके पीछे उनका इतिहास–बोध साक्षी बनकर उपस्थित हुआ है। अतीत की गहराई तक अपनी चिंतन–शक्ति को ले जाने के लिए उन्होंने वर्तमान की आधारभूमि पर खड़े होकर वर्तमान की ज्वलंत समस्याओं और संघर्षों को परखा और अपनी भविष्योन्मुखी–दृष्टि को अधिक परिपक्व और सशक्त बनाने के लिए इतिहास में विलीन हुई अनेक संस्कृतियों तथा परंपराओं के गौरव को भी सामने रखा। परंपरा और आधुनिकता निबंध में उनकी दूरदर्शी दृष्टि को इन शब्दों द्वारा समझा जा सकता है, आधुनिक समाज ने निश्चित रुप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है–सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का–अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी।[9] आचार्य द्विवेदी की चैतन्यमयी–दृष्टि भारत की लोकभूमि से जुड़ी है। उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति को आधुनिक लोकबोली, लोकभाषा तथा लोक–संस्कृति में शाश्वत रूप में देखा है। मेरी जन्मभूमि शीर्षक निबंध में वे लिखते हैं, मेरा विचार यह है कि इतिहास का साहित्य बड़े–बड़े व्यक्तियों के उद्भव और विलय के लेखे–जोखे का नाम नहीं है। वह जीवन–मनुष्य के धारावाहिक जीवन–के सारभूत रस का प्रवाह है,.....मेरे इस छोटे से गाँव में भारतवर्ष का बहुत बड़ा सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा जा सकता है।[10]

आज समाज धार्मिक संस्थाओं और राजनितिक गुरूओं का अखाड़ा बन चुका है। आज एक ओर समग्र सामाजिक परिवर्तन के लिए बुलंद आवाज उठायी जा रही है, तो दूसरी ओर इसी परिवर्तन शब्द को मिटाने के लिए अनेक गोपनीय प्रयास कार्यरत हैं। आज राजनीति दुहरा मुखौटा पहने हुए है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सच्चाई को समझने के लिए जन–चेतना एक क्रांतिकारी उपकरण साबित होगी। आचार्य द्विवेदी ने अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक चिंतन में इन्हीं तथ्यों को उजागर किया है, जन–जागृति जिस दिन सचमुच होगी, उस दिन ऊँची मर्यादा वाले इनका उद्धार नहीं करेंगे ये स्वयं अपनी मर्यादा उच्च बनायेंगे। वह एक समय होगा जब शताब्दियों से पददलित, निर्वाक, निरन्न जनता समुन्द्र की लहरियों के फूत्कार के समान गर्जन से अपना अधिकार मांगेगी.....निःसंदेह यह जागृति धर्म और समाज–सुधार का सहारा नहीं लेगी। वह आर्थिक और राजनितिक शक्तियों पर कब्जा करेगी।[11]

निष्कर्ष

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का इतिहास–बोध इस तथ्य के लिए प्रखर है कि उन्होंने प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों के गहन अध्ययन के साथ–साथ उनके श्रेष्ठ स्वरूप को लिया भी है और जिया भी है। वे उपदेशक रचनाकार मात्र नहीं हैं बल्कि वे समाज–निर्माण में सहायक उन श्रेष्ठ तत्त्वों को आत्मसात् करने वाले लेखक हैं, जिनमें प्राचीनता और आधुनिकता को समन्वित करने की शक्ति हो। ऐसा समाज जहाँ ऊँच–नीच, छुआछूत और जात–पात का अंत हो, जहाँ समग्र–उन्नति वाली अवधारणा विद्यमान हो।

संदर्भ सूची

1. सिंह नामवर, दूसरी परम्परा की खोज, पृ. 17
2. चारुमित्र प्रसाद द्वारिका, साहित्य समीक्षा और इतिहास बोध, पृ. 07
3. सिंह नामवर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की जय–यात्रा, सं. संतोष ज्ञानेन्द्र कुमार, पृ. 26
4. शुक्ल रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 04
5. वही, पृ. 53
6. सं. द्विवेदी मुकुंद, हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली 03, हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ. 34
7. सं. द्विवेदी मुकुंद, हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली 09, पृ. 27
8. सं. द्विवेदी मुकुंद, हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली 08, पृ. 137
9. सं. द्विवेदी मुकुंद, हजीरीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली 09, पृ. 360
10. वही, पृ. 98
11. वही, पृ. 444